जैनाचार्यों का भाषादर्शन

—प्रो. वीरसागर जैन

जैन संस्कृति की रक्षा-सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार में जैनों की भाषा का भी बड़ा योगदान रहा है। लाखों-करोड़ों वर्षों से आज तक जैन संस्कृति जीवित और प्रचारित-प्रसारित रही है, उसका कारण जैनों का भाषा-प्रयोग भी है, उनका भाषा-दर्शन भी है। विचारणीय है कि जैनों का भाषा-दर्शन क्या है ?

भाषा के सम्बन्ध में प्रायः लोग, न केवल सामान्य लोग, बड़े-बड़े धार्मिक लोग विद्वान्, पंडित, धर्मगुरु तक भी ऐसा मानते हैं कि अमुक एक भाषा ही पवित्र, ईश्वरीय या दैवीय है और अन्य सब भाषाएँ बुरी, भ्रष्ट या अपभ्रष्ट हैं, अतः हमें उस एक पवित्र दैवी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, अन्य भाषाओं का नहीं। अन्य भाषाओं का तो बल्कि हमें विरोध करना चाहिए।

किन्तु जैन धर्म में किसी एक ही भाषा का ऐसा आग्रह/दुराग्रह नहीं है, अपितु उसका तो स्पष्ट मानना है कि सभी भाषाएँ सरस्वती की पुत्री होने से आदरणीय व पूजनीय हैं– **'सर्वभाषा सरस्वती'** –(कातन्त्र ??)। जिस प्रकार गाय काली हो या सफेद, दूध तो सफेद ही होता है और हमें उसी से मतलब होना चाहिए, उसी प्रकार भाषा कोई भी हो, हमें तो उसके निर्मल भावों से मतलब होना चाहिए। जो भाषा परब्रह्म का प्रतिपादन करती है वह स्वयं भी 'ब्रह्म' संज्ञा से विभूषित होती है– ऐसा जैनाचार्यों का स्पष्ट मत है। यथा–

''शब्दब्रह्म परब्रह्म के, वाचक-वाच्य नियोग।''

–पं. जयचंद छाबड़ा, समयसार वचनिका, 2

अतः जैनाचार्यों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप संसार की किसी भी भाषा का प्रयोग कर सकता है, उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु हाँ, वह भाषा हर हाल में हित, मित, प्रिय ही होनी चाहिए। कदापि अहित, अमित, अप्रिय नहीं। क्योंकि उससे हिंसा होती है, घोर पापबंध होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि भाषा कोई-सी भी बोली जा सकती है, पर कैसी भी नहीं– यही संक्षेप में जैनाचार्यों का भाषा-दर्शन है।

जैनाचार्यों के उक्त निर्देश के कारण ही सारे संसार में फैले हुए जैन साधक अपनी-अपनी योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। क्षेत्रवाद, वर्णवाद, लिंगवाद आदि की तरह भाषावाद की संकीर्णता से भी ऊपर उठकर रहते हैं, किन्तु इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं कि उनके मुख से कदापि कथमपि ऐसी भाषा न निकले जो पापबंधकारिणी हो, जिससे हिंसा होती हो।

जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि हमें कदापि कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और भूतहिंसाकरी– ये दश प्रकार की भाषा न बोलकर सदा हित, मित, प्रिय और असंदिग्ध भाषा ही बोलना चाहिए। यथा–

''कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेद्यांकुरा मध्यकृशा अतिमानिनी भयंकरी॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्वदेत्॥''

–आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, 18/9 (895-896)

जो भाषा संताप उत्पन्न करने वाली हो उसे कर्कशा कहते हैं। जैसे– तू मूर्ख है, कोरा बैल है, आदि। जिसके सुनने पर मर्म को कष्ट पहुंचे वह भाषा परुषा है। जैसे– तू दुष्ट है, आदि। जो भाषा उद्वेग उत्पन्न करे वह कट्वी है। जैसे– तू नीची जाति का है, पापी है, आदि। जो भाषा निर्दयतापूर्ण हो उसे निष्ठुर कहते हैं। जैसे– मैं तुझे मार डालूँगा, तेरा सिर काट दूँगा, आदि। जिसको सुनकर दूसरे के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो उसे पर कोपिनी कहते हैं। जैसे– तेरे तप में कोई बल नहीं, तू निर्लज्ज है, आदि। जो व्रत, शील आदि गुणों को नष्ट करने वाली हो उसे छेदंकरा कहते हैं। जो हड्डियों के मध्य तक पीड़ित करे वह मध्यकृशा है। जिस भाषा के द्वारा अपनी प्रशंसा दूसरे की निंदा प्रगट होती हो उसे अतिमानिनी समझना चाहिए। जो भाषा भय उत्पन्न करे उसे भयंकरी कहते हैं।

जो भाषा प्राणिहिंसा में प्रवृत्त कराती हो वह भूतहिंसाकरी है।

जैन साधक इन दश प्रकार की अशुभ भाषाओं को नहीं बोलते, अपितु भाषा समिति के अनुरूप हित, मित, प्रिय, निर्दोष और असंदिग्ध वचन ही बोलते हैं।

आचार्य रविषेण ने 'पद्मपुराण' में मजाक में भी पापकारिणी भाषा बोलने का निषेध किया है। यथा–

''भारत्यपि न वक्तव्या दुरितादानकारिणी।
सीतायाः पश्यत प्राप्तो दुर्वादः शब्दमात्रतः॥''

–आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 106/224

आचार्य कुन्दकुन्द ने तो रयणसार में दुर्भाषा बोलने वाले को सम्यग्दर्शन से रहित बताया है। यथा–

''उग्गो तिव्वो दुट्ठो, दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मद-रदो विरुद्धो, सो जीवो सम्म-उम्मुक्को॥ 43 **॥''**

अर्थ– जो उग्र, दुष्ट, दुर्भाव, दुःश्रुत (मिथ्या शास्त्रों का कथन करने वाला), दुरालापी (दुष्टभाषी) और विरुद्ध (धर्म के विरुद्ध) है; वह जीव सम्यग्दर्शन से रहित है।

दरअसल, भाषा अनिवार्यतः भावों की वाहिका होती है। वह केवल पौद्गलिक शब्द मात्र नहीं होती। वह पापबंध और पुण्यबंध की कारण भी सिद्ध होती है। भाषा के प्रयोग से प्रयोक्ता के आन्तरिक भाव और संस्कार प्रकट होते हैं और उसी से उसका सच्चा परिचय प्राप्त होता है। यथा–

''कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्म, न जारजातस्य शिरोविषाणम्।
यदा यदा मुंचति वाक्यवाणं, तदा तदा जातिकुलप्रमाणम्॥''

अर्थ– कुलवान व्यक्ति के हाथों में कोई कमल नहीं होते और कुलहीन व्यक्ति के सिर पर कोई सींग नहीं होते, परन्तु व्यक्ति जब-जब अपने मुख से कुछ बोलता है तो वही उसके जाति-कुल का ठोस प्रमाण होता है।

भाषा की बात कोरी भाषा की बात नहीं होती, उसके साथ संस्कृति भी प्रगाढ़ रूप से जुड़ी ही रहती है। जैन साधक अहर्निश जैन संस्कृति में ही डूबा रहता है, जैन संस्कृति की ही निरंतर उपासना/आराधना करता रहता है, जो कि अहिंसा, अनेकांतवाद आदि सिद्धांतों को बहुत अधिक महत्त्व देती है, इसलिए उसकी भाषा भी ऐसी ही होती है जिसमें जैन संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। जैन संस्कृति प्रतिबिम्बित न भी हो तो कम से कम इतना तो अवश्य होता है कि उसकी भाषा में जैन सिद्धांतों के विरुद्ध जाने वाली कोई भी बात जरा-सी भी नहीं निकल पाती, निकल जाये तो उसका उसे बड़ा खेद होता है, वह उसका पश्चात्ताप करता है। सीधे-सीधे तो क्या, उपमा आदि के रूप में भी वह जैन सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं बोलता। जैसे–

1. घर की मुर्गी दाल बराबर
2. साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे
3. झख मारना

इत्यादि हिंसापोषक मुहावरों का प्रयोग वह नहीं करता।

अहिंसा जैन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। अतः जैन साधक वहीं भाषा बोलता है, जिसमें सर्वत्र अहिंसा प्रतिबिम्बित हो, कहीं भी किंचित् भी किसी भी रूप में हिंसा का समर्थन न हो। उदाहरणार्थ जैन साधक निम्नलिखित प्रकार का वाक्य कभी नहीं बोलता कि– इस फल या सब्जी की स्किन छील दो या पूंछ काट दो, इत्यादि; क्योंकि इससे हिंसा का दोष लगता है। जैन साधक काटने, पीटने, मारने आदि क्रियाओं का ही प्रयोग प्रायः नहीं करता। यही कारण है कि आज भी जैन घरों में सब्जी और फल को भी 'काटना' नहीं, 'सँवारना', 'बनाना' आदि कहा जाता है। इसी प्रकार खाने की वस्तुओं को पशु-पक्षियों का आकार या उनकी उपमा भी नहीं दी जाती, क्योंकि इससे भी हिंसा का दोष लगता है। आजकल बहुत-से लोग ऐसी लापरवाही करते देखे जाते हैं, उन्हें सावधान हो जाना चाहिए। अरे खाना तो दूर, साधक जीव तो पशु-पक्षियों के चित्रों पर पैर तक नहीं रखते।

हिंसा की तरह असत्य, चोरी, अब्रह्म, कुशील और परिग्रह इत्यादि को भी जैन संस्कृति में पाप कहा है, अतः जैनों का भाषादर्शन ऐसी भाषा बोलने की भी अनुमति नहीं देता जिसमें असत्य, चोरी आदि पापों के समर्थन का दोष लगे। कुछ लोग हँसी-मजाक में या क्रोधादि में ऐसे शब्द बोलते हैं जिनसे असत्य-सम्भाषण का दोष लगता

है। जैसे–

तू फेल/पास हो गया है, तुझे गुरुजी ने बुलाया है, आदि परन्तु जैन साधक ऐसी भाषा भी नहीं बोलता।

इसी प्रकार कुछ लोग अपने मुंह से माँ-बहिन की बहुत गालियाँ निकालते हैं। इससे अब्रह्म (कुशील) का महापाप लगता है, शील का घात होता है। अतः जैन साधक कभी भी अपने मुंह से ऐसी गालियां नहीं निकालते हैं।

इसीप्रकार हमें ऐसे शब्द भी अपने मुंह से कभी नहीं बोलने चाहिए, जिनसे चोरी या परिग्रह का दोष लगता हो।

जैन संस्कृति में भावों की शुद्धि पर बहुत अधिक बल दिया गया है और भावों का भाषा से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जरा-जरा-सी बात से, एक-एक शब्द से जीवों के भाव खराब होते देखे जाते हैं। तथा भाव खराब होते हैं तो कर्मबन्ध भी होता है, जो होता तो सहज-सा है, पर जब उदय में आता है तो बड़ी पीड़ा देता है, अतः जैनाचार्यों ने एक-एक शब्द चुन-चुन कर बोलने का उपदेश दिया है और कर्मबंधकारिणी भाषा बोलने का सख्त निषेध किया है। यथा–

1. निम्नलिखित प्रकार की ज्ञान-दर्शन और उसके साधनों में दोष लगाने वाली भाषा बोलने से ज्ञानावरप्पदर्शनावरण कर्म का बंध होता है– प्रवचन में मत जाओ, प्रवचन मत करो, उसे शास्त्र मत सुनाओ, इन शास्त्रों को फेंक दो, जला दो, इत्यादि। (**'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो:'** –तत्त्वार्थसूत्र 6/10)
2. निम्नलिखित प्रकार की स्व-पर को दुःख, शोक आदि देने वाली भाषा बोलने से असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है –मैं तुझे मार डालूँगा, तेरे नाक-कान काट लूँगा, इसे बांध कर रखो, इस पेड़ को काट डालो, मैं अपने आप को मार लूँगा, वह मर जाए, उसकी दुकान जला दो, तू ज़हर खा ले, मर जा, कुएँ में गिर जा, इत्यादि। अधिकांश लोग किसी मृत्यु को 'शोक-समाचार' और उसकी सभा को 'शोक-सभा' बोलते हैं, परन्तु ज्ञानिजन तो 'वैराग्य-समाचार' और 'वैराग्य-सभा' जैसे उचित शब्दों से ही बोलते हैं। (**'दु:खशोकतापाक्रन्दन-वधपरिदेवनान्यसद्वेद्यस्य'** –तत्त्वार्थसूत्र 6/12)
3. निम्नलिखित प्रकार की देव-शास्त्र-गुरु-विरोधी भाषा बोलने से मोहनीय कर्म का बंध होता है– भगवान भोजन करते हैं, देवता मद्य-मांस का सेवन करते हैं, अमुक कुदेव-देवी का मंदिर अच्छा है, वहाँ जाओ, उनको पूजो, वहाँ कुछ भेंट चढाओ, वे तुम्हें धन देंगे, इत्यादि। (**'केवलिश्रुतसंघदेवावर्णवादो दर्शन-मोहस्य'** –तत्त्वार्थसूत्र 6/13)
4. निम्नलिखित प्रकार की आरम्भ-परिग्रह बढ़ाने और मायाचार की भाषा बोलने से नरक-तिर्यंचरूप अशुभ आयु कर्म का बंध होता है। जैसे– पचासों मकान और गाड़ियाँ खरीदो, ठाठ से रहो, बहुत माल छुपा कर रखोइत्यादि। (**'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:, माया तैर्यग्योनस्य'** –तत्त्वार्थसूत्र 6/15-16)
5. निम्नलिखित प्रकार की आत्मप्रशंसा-परनिंदा की भाषा बोलने से नीच गोत्र कर्म का बंध होता है। जैसे– मैं बहुत अच्छा हूँ, अन्य सब गंदे हैं, उनको कुछ नहीं आता, इत्यादि। (**'परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य'** –तत्त्वार्थसूत्र 6/25)
6. निम्नलिखित प्रकार की विघ्नकारी भाषा बोलने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। जैसे– उसे आहार मत दो, रोटी-पानी मत दो, पैसे मत दो, संयम मत ग्रहण करो, उसकी सहायता मत करो, इत्यादि। (**'विघ्नकरणमन्तरायस्य'** –तत्त्वार्थसूत्र 6)

इसी प्रकार से अन्य भी समझ लेना चाहिए। इसे और विस्तार से आप स्वयं भी समझ सकते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन साधकों का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही नहीं, अपितु उनकी भाषा भी उच्च कोटि की होती है। वे कथमपि पापबंधकारिणी भाषा नहीं बोलते। उसकी अपेक्षा तो मौन रहना ही उत्तम समझते है क्योंकि– **'मौनं सर्वार्थसाधकम्'**।

जैन साधक जिन वचनों से जैन सिद्धांतों का घात होता हो उन्हें कथमपि नहीं बोलते, अपितु ऐसा कुछ ही बोलते हैं जिससे जैन तत्त्वज्ञान का पोषण होता हो। जैसे– जैनदर्शन में ईश्वर/भगवान को सृष्टि का कर्ता-धर्ता नहीं माना जाता, अतः जैन साधक ऐसी कोई बात नहीं बोलते जिससे ईश्वरकर्तृत्व का पोषण होता हो। जैसे– भगवान ने बुला लिया, भगवान सब देगा, सब भगवान की माया है, भगवान उनकी आत्मा को शांति दे, इस साल भगवान ने बहुत बारिश कर दी या नहीं करी, इत्यादि।

जैनदर्शन में ईश्वर/भगवान को वीतराग-सर्वज्ञ माना जाता है, अतः जैन साधक ऐसी कोई भी बात नहीं बोलते जिससे भगवान की वीतरागता-सर्वज्ञता खंडित होती हो। जैसे– सब भगवान की कृपा है, उनकी मर्जी है, इत्यादि। अपितु ऐसी ही भाषा बोलते हैं जिससे उनकी वीतरागता-सर्वज्ञता का समर्थन होता हो। जैसे– जैसा भगवान के ज्ञान में झलका होगा वैसा ही होगा, इत्यादि।

जैनदर्शन में रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व माना जाता है, अतः जैन साधक ऐसी कोई बात भी नहीं बोलते जिससे मिथ्यात्व का पोषण होता हो। पारस्परिक अभिवादन में भी वे किसी कुदेव आदि की जय नहीं, अपितु जिनेन्द्र देव की जय अर्थात् 'जय जिनेन्द्र' बोलते हैं। अथवा केवल 'नमस्ते, नमस्कार' आदि ही बोलते हैं, परन्तु कुदेवादि की जय नहीं बोलते। अपने सहधर्मी से तो अनिवार्यतः 'जय जिनेन्द्र' बोलते हैं। अभिवादन के रूप में 'जय जिनेन्द्र' कहने की परम्परा जैनों में काफी पुरानी है। ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी वि.सं. 1884 को कविवर वृन्दावनदासजी ने जयपुर एक पत्र लिखा था, उसमें भी सबको अभिवादन के रूप में 'जय जिनेन्द्र' ही लिखा है। यथा–

''वृन्दावन तुमको कहत, श्रीमत जयति जिनंद।
काशी तें सो बांचियो, अमरचन्द सुखकंद॥''–वृन्दावन-विलास

जैन धर्म के अनुसार रावण राक्षस नहीं था, हनुमान बन्दर नहीं थे, कुम्भकर्ण छह माह तक सोते नहीं थे, मद्य-मांस नहीं खाते थे, राजा दशरथ शोक करके नहीं मरे थे, इत्यादि अनेक बातें हैं। जैन साधक इन सबको जैन-शास्त्रानुसार ही बोलते हैं, अन्य अज्ञानतापूर्ण वचन नहीं बोलते।

जैन धर्म में रात्रिभोजन वर्जित है, अतः सूर्यास्त से पूर्व ही कुछ भोजन ग्रहण किया जाता है और उसे 'अंथउ' (सूर्यास्त से पूर्व का भोजन) जैसे उचित शब्द से बोला जाता है। आजकल कुछ लोग उसे 'डिनर' कह देते हैं, जो वस्तुतः रात्रिभोजन का वाचक शब्द है और इसलिए जैन साधक को यह बोलना बहुत उचित नहीं है।

जैन अध्यात्म के अनुसार इस विश्व में कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं है, अतः हमको राग-द्वेष छोड़कर ज्ञाता-दृष्टा रहने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जैन साधक राग-द्वेष की भाषा से बचकर ज्ञान की भाषा बोलने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ– वह ऐसा नहीं बोलता कि आज मौसम अच्छा या बुरा हो गया, अपितु ऐसा बोलता है कि आज मौसम बदल गया। 'अच्छा-बुरा' बोलना राग-द्वेष की भाषा है और 'बदल गया' बोलना ज्ञान की भाषा है। (**'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषवर्जनानि पंच'** –तत्त्वार्थसूत्र 7/8)

इसी प्रकार जैन अध्यात्म के अनुसार कोई किसी का कर्ता-धर्ता नहीं है, जगत का सारा परिणमन स्वयं हो रहा है, अतः जैन साधक 'मैंने किया, मैंने किया' –ऐसी कर्तावाद की भाषा नहीं बोलते, अपितु यह तो सहज स्वतः हुआ है –ऐसी ही भाषा बोलते हैं। जैसा कि आचार्य अमृतचंद्रसूरि ने कहा है–

''वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥''

–पुरुषार्थसिद्धयुपाय 226

अर्थ– विविध वर्णों से पद बने, पदों से वाक्य बने और फिर वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने तो वास्तव में इसमें कुछ नहीं किया।

इसी प्रकार से और भी बहुत सी बातें समझी जा सकती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन साधक ऐसी ही भाषा बोलते हैं जिसमें पद-पद पर जैन संस्कृति, जैन तत्त्वज्ञान, जैन सिद्धान्त, अहिंसा, अनेकान्तवाद, अकर्तावाद, भेदविज्ञान आदि प्रतिबिम्बित एवं पोषित होते हों। उनका किंचित् भी घात होता हो –ऐसी भाषा कभी नहीं बोलते।

❖❖